नवउदारवादी दबावों के बीच मीडिया

संजय कुंदन

भारतीय मीडिया ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के कामकाज को लेकर हाल के दिनों में चिंता और बढ़ी है। जिन लोगों के भीतर लोकतंत्र और संवैधानिक मूल्यों के प्रति थोड़ी भी आस्था बची है, वे मीडिया के रवैये को लेकर लगातार सवाल उठा रहे हैं। वे इस ओर ध्यान दिला रहे हैं कि किस तरह देश के न्यूज चैनल ख़बरों के प्रसारण में अतिरेक का शिकार होने लगे हैं। हाल के दिनों में उन्होंने ऐसी कई ख़बरें चलाईं जिनके स्रोत स्पष्ट नहीं थे, जिनसे भ्रम फैला, लोगों में ग़लत संदेश गया। अब इस बात पर गंभीरता से बहस हो रही है कि मुख्यधारा के मीडिया ने पत्रकारिता की मर्यादाओं और मानकों को ताक पर रख दिया है। आख़िर इसका हमारे समाज और पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है।

यह स्थिति क्या अचानक आ गई है? इसके लिए क्या सिर्फ़ मीडिया संस्थानों को दोष दिया जा सकता है? आज नवउदारवाद ने जिस तरह अर्थव्यवस्था और समाज पर गहरा असर डाला है, उससे मीडिया भला अछूता कैसे रह सकता था। सच तो यह है कि मीडिया को अपने सांचे में ढालना नवउदारवाद का एक एजेंडा रहा है। ग़ौरतलब है कि बीसवीं सदी के अंतिम दशक की शुरुआत में भारत ने उदारीकरण के युग में प्रवेश किया, जब 1991 में नई आर्थिक नीतियां तैयार की गईं। इसके ज़रिए पूंजी बाजार को निजी उद्यमों के लिए खोला गया। घरेलू और विदेशी प्रतिस्पर्धा बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र को खुली छूट दी गई। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर राज्य का नियंत्रण समाप्त करने और इसका एकाधिकार तोड़ने की मांग पहले से चली आ रही थी। अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों से यह अब हक़ीक़त में बदल गई।

मीडिया नीतियों में तब्दीली के साथ-साथ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के विस्तार और तकनीकी प्रगति के कारण देश में मीडिया उद्योग का स्वरूप एकदम बदल गया। नई नीतियों का एक उल्लेखनीय प्रभाव 'ट्रांसनेशनल कम्युनिकेशन' की शुरुआत थी, जिसके कारण भारत में टेलीविजन उद्योग की जबरदस्त वृद्धि हुई। 1991 में जहां एक टेलीविजन चैनल 'दूरदर्शन' था, वहीं 2012 आते-आते 800 से अधिक चैनल हो गए। लेकिन इसी के साथ मीडिया का दर्शन भी बदल गया। बाजारवाद के इस दौर में ख़बरों को एक उत्पाद माना जाने लगा और पाठकों-दर्शकों को उपभोक्ता। अब मीडिया उद्योग पूरी तरह बाज़ार के सूत्रों से चलने लगा। मीडिया की आर्थिकी पूरी तरह बदल गई। 30 साल पहले, औसत मीडिया आउटलेट के कुल राजस्व का 55-77% सदस्यता या कॉपी बिक्री के माध्यम से सीधे पाठकों से आता था। आज यह मीडिया को बनाए रखने वाले विज्ञापनदाताओं के माध्यम से आता है। वर्तमान में विज्ञापन से राजस्व तक़रीबन 60-75% पहुंच गया है, जबकि कुछ दशकों पहले यह 25-30% था। गत वर्षों में बैलेंस शीट पर विज्ञापन का हिस्सा ऊर्ध्वाधर रूप में (वर्टिकल) बढ़ा है और टेलीविजन चैनलों के मामले में यह अब 70-80% हो गया है।

आज आलम यह कि विज्ञापनदाताओं ने अखबार का पहला पृष्ठ क़ब्ज़ा लिया है और समाचार तीसरे पृष्ठ पर चला गया है। मतलब पाठक पहले विज्ञापन देखता है, बाद में ख़बरें पढ़ता है। पिछले कुछ वर्षों में एक मीडिया संस्थान के मालिक का यह वक्तव्य बेहद चर्चित रहा है कि वह विज्ञान छापने के लिए अखबार निकालते हैं और विज्ञापन के बीच की जगहों को ख़बरों से भरते हैं। यह बदलते हुए दौर को दर्शाता है। यानी इस नवउदारवादी दौर में मीडिया पूरी तरह बाज़ार संचालित है। मीडिया के कामकाज को वही नियंत्रित करता है। यही कारण है कि संपादकों ने अख़बार के पृष्ठों पर अपना नियंत्रण खो दिया और पूरी तरह मालिक या सीईओ के अधीन हो गए। 'कॉर्पोरेट' प्रबंधक और 'मार्केटिंग' प्रबंधक ब्यूरो प्रमुखों और संवाददाताओं से अधिक शक्तिशाली बन गए हैं। आज मीडिया किसी भी अन्य उद्योग की तरह एक लाभ से संचालित क्षेत्र है।

टीवी इंडस्ट्री का जो बिजनेस मॉडल भारत में विकसित हुआ है, उसने चैनलों के हाथ बांध दिए हैं। पत्रकारों को ख़बरों से ज़्यादा चिंता राजस्व की करनी पड़ती है क्योंकि इसी से उनकी नौकरी सुरक्षित रहती है। अधिकतर विकसित टीवी मार्केट में 70 प्रतिशत कमाई सब्सक्रिप्शन से आती है और 30 फीसदी एडवर्टाइजिग रेवेन्यू से, लेकिन इतने सालों बाद भी भारत में इसका उलटा है। अनुमान है कि भारत में एक न्यूज चैनल का औसतन 95 प्रतिशत रेवेन्यू विज्ञापन से आता है और 5 प्रतिशत केबल सब्सक्रिप्शन से। इसमें भी अगर कोई बड़ा न्यूज चैनल है, तो उसे पे चैनल होने की सहूलियत मिलती है और सब्सक्रिप्शन रेवेन्यू हासिल होता है, पर छोटे चैनलों के मामले में अकसर सब्सक्रिप्शन रेवेन्यू न के बराबर होता है यानी अंततः लड़ाई

टीआरपी की रह जाती है। चैनल चलाना है तो लोकप्रियता के पैमाने पर खुद को साबित करने की ज़रूरत पड़ती है। टीआरपी की लड़ाई बढ़ती है तो चैनल ऐसा कंटेट तैयार करने को मजबूर हो जाते हैं, जो केवल टीवी रेटिंग हासिल करने के लिए दिखाया जाता है।

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की एक रिपोर्ट के मुताबिक 2013 तक भारत में 438 मनोरंजन और 410 न्यूज चैनल थे। हालांकि एक तरफ चैनलों की संख्या बढ़ रही थी, दूसरी ओर वैश्विक मंदी और घरेलू अर्थव्यवस्था की धीमी चाल से मीडिया इंडस्ट्री के हाथ-पांव फूल रहे थे। मंदी का विपरीत असर विज्ञापन पर पड़ा और भारी प्रतिस्पर्धा वाले बाज़ार में बड़ी तादाद में मीडियाकर्मियों की नौकरियां गयीं। कई चैनल बंद हो गये, तो कई किसी तरह अपने को खींचते रहे। नये चैनल को लॉन्च करने के लिए भारी पूंजी की ज़रूरत होती है जो निवेश की शक्ल में आता है, लेकिन निवेशकों की भूमिका यहीं खत्म नहीं होती, बल्कि आनेवाले डेढ़ से दो साल तक चैनल निवेशकों पर ही निर्भर होता है। अगर धीरे-धीरे चैनल चल निकलता है तो करीब-करीब दो साल में वह ब्रेक इवन कर लेता है, यानी ऐसी स्थिति हासिल कर लेता है, जहां न मुनाफा है, न नुकसान। इसके बाद उसे विज्ञापन मिलने लगते हैं और चैनल मुनाफा कमाने लगता है।

लेकिन यह एक आदर्श स्थिति है। भारत में टीवी न्यूज चैनलों की संख्या इतनी अधिक है कि हर ओर होड़ है। कई चैनल ब्रेक इवन करने में ही चार साल से अधिक लगा देते हैं। न तो निवेशकों में इतना संयम है, न चैनल में काम करनेवालों में उतना धैर्य। बहरहाल हाल के वर्षों में कई ऐसे चैनल लॉन्च किए गये, जिनमें राजनेताओं, बिल्डरों का पैसा लगा था। कई ऐसे लोगों के नाम भी निवेशक सूची में दिखे, जिनकी कमाई का जरिया ही संदिग्ध था। अधिकतर मामलों में इन लोगों ने इसीलिए पैसे लगाये, क्योंकि उन्हें अपना एजेंडा चलाना था। जाहिर है एक चैनल ही नहीं पूरे मीडिया तंत्र पर इसका प्रभाव पड़ा। दरअसल टीवी इंडस्ट्री को लेकर नियम इतने कमज़ोर हैं कि कई दफ़ा इसे मनी लॉड्रिंग के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है, ताकि ब्लैक मनी को व्हाइट किया जा सके।

पिछले कुछ समय से यह भी लगातार महसूस किया जा रहा है कि भारतीय मीडिया सत्ता के नैरेटिव को आक्रामक रूप में आगे बढ़ा रहा है। उस पर धार्मिक अंधविश्वास, अवैज्ञानिकता, उग्र राष्ट्रवाद, व्यक्तिपूजा को आगे बढ़ाने के आरोप लगते रहे हैं। दरअसल यह नैरेटिव आज के कॉरपोरेट जगत को अपने अनुकूल लगता है। कारण यह है कि भूमंडलीकरण-उदारीकरण के प्रसार के साथ उसके अंतर्विरोध भी उजागर हुए, उसके संकट भी सामने आए। तमाम समस्याओं को दूर करने के उसके दावों की पोल भी खुली। ऐसे में यह ज़रूरी था कि आमजन का ध्यान जीवन के बुनियादी मुद्दों से हटाया जाए, ताकि उनके प्रतिरोध को दबाया जा सके। ऐसा करके ही नवउदारवाद की परियोजना बेरोकटोक आगे बढ़ सकती थी। इसलिए एक उदारवादी-फासीवादी गठजोड़ बन गया है। धार्मिक और सांस्कृतिक अस्मिता, आक्रामक राष्ट्रवाद को उभारकर जनता को उसके बुनियादी मुद्दों से दूर रखना आसान है। इसलिए औद्योगिक घराने इस नैरेटिव को आगे बढ़ते देखना चाहते हैं। यह विश्वव्यापी परिघटना है। अनेक देशों में मीडिया का नियंत्रण कुछ बड़े औद्योगिक घरानों तक सीमित हो गया है। भारत में किस तरह मीडिया पर एक-दो घरानों का क़ब्ज़ा होता गया है, यह हम सबने देखा है। ये घराने आज की वर्तमान सत्ता के बेहद प्रिय हैं। दोनों एक-दूसरे का हित साध रहे हैं।

आज दुनिया भर में मीडिया को नियंत्रित करने की कोशिशें चल रही हैं। पिछले कुछ दशकों से अमेरिका में प्रेस की स्वतंत्रता के अधिकार में कटौती के प्रयास हो रहे हैं। रिपब्लिकन और डेमोक्रेट दोनों ही पार्टियों के प्रशासन ने व्हिसलब्लोअर और पत्रकारों के स्रोतों पर मुकदमा चलाने के लिए जासूसी अधिनियम का उपयोग करना सामान्य बना दिया है। दक्षिणपंथी थिंक टैंक हेरिटेज फाउंडेशन इस प्रयास में लगा हुआ है कि पत्रकारों की निगरानी और उनके स्रोतों पर मुकदमा चलाना आसान बनाया जाए।

इसमें दो मत नहीं कि आज मीडिया की साख को गहरा धक्का लगा है। एक बड़ा वर्ग न्यूज चैनलों से मुंह मोड़ने लगा है। इसलिए अब वैकल्पिक मीडिया के प्रयास भी शुरू हुए हैं। सहकारी आधार पर स्वामित्व की कुछ पहलकदमियां हुई हैं। अब डिजिटल माध्यम पर एक बेहतर विकल्प देने की कोशिश चल रही है। ये सारे प्रयास मुख्यधारा के मीडिया पर कोई दबाव बना पाएंगे और उसे बदल पाएंगे कि नहीं, यह कहना फिलहाल मुश्किल है।